समझ की भाषा

*संध्या सिंह**

आज़ादी के बाद के पिछले सारे शिक्षा संबंधी दस्तावेजों में मातृभाषा को समझ के माध्यम खासतौर से प्राथमिक शिक्षा के रूप में लागू किए जाने की बात कही गई और बच्चों की समझ में सहायक उनकी अपनी भाषा, उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति को महत्व दिया गया। लेकिन आज लगभग 60 वर्षों बाद भी ऐसा पूरी तरह न हो सका। एक ओर घर की भाषा और स्कूल की भाषा में अंतर बढ़ता चला गया तो दूसरी ओर अँग्रेज़ी सहित भारतीय भाषाओं के बीच सँवाद की अपनी समझ, अपनी अभिव्यक्ति कहीं दब कर रह गई। इसीलिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में इस बात को पुरजोर तरीके से फिर से कहने की ज़रूरत पड़ी कि बच्चों की घर की भाषा स्कूल में भी उनकी समझ का माध्यम बने ताकि बच्चे रटने के बजाय समझकर पढ़ने की दिशा में आगे बढ़ें। शिक्षा उनके लिए बोझ न बनकर एक आनंददायी अनुभव बने।

पढ़ने-पढ़ाने की दुनिया में बच्चों के समझ का माध्यम कौन-सी भाषा हो सकती है? आज भी यह बहस का बड़ा मुद्दा है, पर बहस में नहीं। इधर एन.सी.ई.आर.टी ने 'समझ का माध्यम' शृंखला के रूप में देशभर (पटना, वाराणसी, उदयपुर) में संगोष्ठी आयोजित कर बहस चलायी। संभव है, शिक्षा का अधिकार बिल पास हो जाने से यह बहस एक अंजाम ले सके। क्योंकि इसके अध्याय तीन में राज्यों की जिम्मेदारियों में एक बात खुल कर कही गई है कि और बहुत से अवरोधों के साथ-साथ भाषिक अवरोध के कारण किसी भी बच्चे की प्रारम्भिक शिक्षा में रुकावट नहीं आनी चाहिए। पर हैरानी है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था आजादी के बासठ वर्षों बाद भी बच्चों को अपनी भाषा में पढ़ने की आजादी नहीं देती। आज भी स्कूलों में बच्चों को ककहरा रटते हुए देखकर नागार्जुन की 'मास्टर' कविता प्रासंगिक हो उठती है।

**प्रवक्ता* हिन्दी, भाषा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली

घुन-खाए शहतीरों पर की, बाराखड़ी विधाता बाँचे
कटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
दुखरन मास्टर गढ़ते हैं किसी तरह आदम के साँचे

हमारी शिक्षा पद्धति में 'आदम के साँचे' गढ़ने की परम्परा के पीछे रटंत प्रणाली का बड़ा जोर रहा है। जाहिर है, इन साँचों से निकले तोतों के पास न तो अपनी सोच-विचार है और न ही अपनी जुबान।

इसे जानने और सोचने-विचारने के लिए तो थोड़ा ठहरना होगा। अपने अतीत, वर्तमान और आने वाले समय पर एक साथ दृष्टि डालनी होगी। खुद की रफ्तार को रोककर स्कूलों में झाँकना होगा। बे मकसद होती नई पीढ़ी को टटोलना होगा। इस बात का जायजा लेना होगा कि पढ़ाई का जो ढाँचा औपनिवेशिक शासन में तैयार हुआ आज़ादी के बहुत वर्षों बाद तक बहुत कुछ आज तक क्यों चलता रहा? जाहिर है यह ढाँचा हमारे देश के मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय समाज को रास भी आया। पर इस ढाँचे ने भाषाई, वैचारिक गुलामी तथा ज़हालत का एक ऐसा पासा फेंका जिसकी चाल हमें आज तक नहीं मिल पा रही है। बहुत थोड़े से लोगों को साथ लेकर चलने वाले इस ढाँचे में आम बच्चों के लिए पढ़ना-लिखना संभव नहीं हुआ। क्यों?

हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति भी इससे भिन्न न थी। उसमें भी थोड़े से उच्च घरानों के लोगों को ही पढ़ना सुलभ था। आम लोगों की पहुँच वहाँ नहीं थी (पर वहाँ गुरु शिष्य संवाद की अच्छी परंपरा थी)। नतीजा सामने है। बहुत बड़ी तादाद में ऐसे बच्चे बड़े होते रहे जो अपने लिए, अपने देश के लिए अपनी जुबान में अपनी बात कहने से हिचकिचाते हाशिए पर रहे।

समझ और भाषा का सीधा संबंध बनता है। कौन पहले, यह कहना इतना आसान नहीं। आज शायद हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं होगा कि आजादी के पहले यानी औपनिवेशिक शासन हो या उत्तर औपनिवेशिक समय, भाषा और समझ को एक साथ रखकर देखने की कोशिश हमारे सोच के दायरे में कभी नहीं रही। रही भी तो इस तरह नहीं कि यह एक मुहिम का रूप ले सके। हमारी नींद में दस्तक देने लगे। एंगिल्स यह कहता है कि भाषा मनुष्य की व्यावहारिक चेतना है। जरा सोचिए, बच्चे स्कूल में ऐसी भाषा का व्यवहार करने को बाध्य किये जाँएगे, जो उनके परिवेश की नहीं है तो क्या होगा? यकीनन उनकी चेतना गुलाम होगी और गुलाम चेतना के साथ बड़े होते बच्चे अपने भविष्य और आज़ाद भारत की रक्षा कर सकने में कितना समर्थ होगें, सोचना होगा।

उस समय में काम मुख्य रूप से दो स्तरों पर हुआ। एक ओर ऐसे स्कूल तैयार हुए जिन तक आम भारतीय आदमी की पहुँच न थी। दूसरे पढ़ाई का माध्यम ऐसी भाषा रही जो बच्चों के स्वतंत्र अभिव्यक्ति में रूकावट बनी और उनके अपने विचार बनाने में बाधक रही। अभिव्यक्ति प्रभावित होती है तो एक ओर बच्चों के व्यक्तित्व का विकास रुकता है और दूसरी ओर देश का

विकास भी निश्चय ही रुकता है (धीरे-धीरे शिक्षा से दूर होते बच्चों के कारण)। अभिव्यक्ति के स्तर पर पहले से ही कमजोर आम जनता को और कमजोर करते जाने की यह साजिश कामयाब रही। इस कदर कामयाब रही कि आज हमारे पास अर्थ, समाज और विज्ञान-जो किसी भी देश के विकसित होने या पिछड़ेपन का पैमाना होता है — के पास अपनी भाषा नहीं है। हमारे देश का वह विज्ञान और अर्थशास्त्र नहीं विकसित हो पाया जो हमारे देश और हमारी ज़रुरत के मुताबिक रचा गया हो। विज्ञान-समाज और अर्थ संबंधी मसलों के लिए उधार ली गई भाषा अपना विचार बना सकने में बाधक रही। यह सब हुआ, और यह जानते और मानते हुए हुआ कि विचार-विमर्श के अभाव में न तो भाषा का विकास हो सकता है और न ही बच्चों का।

आजाद भारत ने ऐसी पीढ़ी को जन्म दिया जिनकी अपनी समझ का विकास करने में हमारे स्कूल भी सहायक नहीं रहे। इसका नतीजा हमारे सामने है। हालाँकि हम बड़ी बेफिक्री से यह मान लेते हैं कि इसका कारण मात्र गरीबी है। यह जानने की कहीं कोशिश भी नहीं की गई कि स्कूल की भाषा और घर की भाषा के बीच संवाद हो रहा है या नहीं? अगर नहीं हो रहा है तो रास्ता क्या है? हैरत है कि संवाद का न होना हमारे देश में कभी वाद-विवाद का मुद्दा नहीं हुआ। कनाडा के मशहूर संचारशास्त्री मार्शल मैकलुहान बार-बार कहते रहे कि 'माध्यम ही संदेश है'। पर हम माध्यम कोई हो संदेश तो हम पहुँचा ही लेंगे कि सोच से रटाते रहे। लेकिन हमने सुना नहीं। कारण और भी हैं। पड़ताल जरूरी है।

इस बात की पड़ताल भी करनी होगी कि भारत जैसे बहुभाषी देश के बच्चों के आपसी संवाद की भाषा क्या होगी? न सोचने का नतीजा यह हुआ कि आज तक हमारी कोई भाषा नीति नहीं बन पाई है। ऐसे में एक ओर ऐसे लोगों की सँख्या बढ़ती गई जो यह मानने लगे कि भारतीय भाषाओं का कक्षा की भाषा न बन पाने का कारण कहीं न कहीं अँग्रेज़ी भाषा है। (गाँधी की सोची हुई नई तालीम में भी अंग्रेज़ी का स्थान न था। आगे चलकर बहुत से लोगों का ध्यान भी इस ओर गया)। दूसरी ओर भारत के अन्य भाषा-भाषियों के बीच ऐसा बीज रोपा गया कि हिंदी ही अन्य भाषाओं के विकसित न हो पाने का कारण है। इसका नतीजा यह हुआ कि अँग्रेज़ी का महत्व और बढ़ता चला गया। आज अँग्रेज़ी ज्ञान-विज्ञान की भाषा होने के साथ-साथ हमारे आपसी जुड़ाव का माध्यम भी हो गई है। इसलिए इसे तबतक पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता, जबतक कि यह भाषा हमारे जुड़ाव का माध्यम है। आज इस बात की भी जरूरत है कि भारतीय भाषाओं के साथ-साथ हिंदी और अँग्रेज़ी के बीच एक संवाद कायम हो। यह संवाद हमारी हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को सशक्त करने की दिशा में पहल कर सकता है। बच्चे शुरूआती दौर में ही कुछेक भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अँग्रेज़ी भी पढ़ें, पर स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बच्चों के घर की भाषा ही हो। इसके लिए दो स्तरों पर काम करना होगा।

एक-अनुवाद के द्वारा, दूसरे मूल हिंदी या भारतीय भाषाओं में लेखन द्वारा। जब एक पुस्तक

हिंदी से अँग्रेज़ी में अनूदित होगी तो विश्व पटल पर हिंदी भी पहुंचेगी। इसी तरह जब एक पुस्तक अँग्रेजी से हिंदी में अनूदित होकर पहुंचेगी तब भी हिंदी की दुनिया कुछ और समृद्ध होगी। कल्पना कीजिए, टॉलस्टॉय या शेक्सपियर हिंदी और अन्य भाषाओं में न आए होते तो क्या होता? क्या होता, शायद इतना ही कि एक ओर अपराध और दंड, मैकबेथ, अन्नाकेरेनिना जैसी महान रचनाओं से बहुत से पाठकों और विद्यार्थियों का परिचय न होता, तो दूसरी ओर ऑथेलो और अन्ना जैसे चरित्रों से हमारे देश के अन्नाओं और ऑथेलाओ की मुलाकात न हुई होती और हर देश के अन्ना अपने-अपने अकेलेपन में कैद होते। जाहिर है साहित्य का विकसित संसार भी कुछ संकुचित होता और इस मुकाम पर न होता। विचारना यह भी होगा कि प्रेमचन्द जैसे कथाकार अँग्रेजी में पहुँचे तो दुनिया ने यह जाना कि हिंदी ऐसी जमीन की भाषा है जो उर्वर है, जिसे आगे आने से रोका नहीं जा सकता। यह कहने में संकोच नहीं कि रवीन्द्र नाथ टैगौर अँग्रेज़ी में न पहुँचे होते तो उन्हें नोबेल पुरस्कार भी न मिला होता। बहुत-सा अच्छा लेखन हिंदी और भारतीय भाषाओं में हो रहा है, जिसकी खबर शायद दुनिया को नहीं है तो इसका मतलब यह नहीं है कि हिंदी या भारतीय भाषाएँ कुछ दे सकने में समर्थ नहीं है। ऐसी छवि और ऐसी धारणा बनाने के भागीदार हम भारतीय ही हैं। हिंदी में विज्ञान, समाज विज्ञान की तमाम ऐसी पुस्तकें हैं जिनको हिंदी पाठकों तक पहुँचाना होगा। पर यह तभी होगा जब हमारी भाषा समृद्ध होगी और भाषाएँ एक-दूसरे के साथ ही फलती-फूलती हैं।

हमारे देश में लगभग हर भाषा के बहुत अच्छे कवि और लेखक मौजूद हैं। इनकी सहायता से इन नए क्षेत्रों के लिए हर भाषा में बच्चों के लिए किताबें तैयार की जा सकती हैं। इन दिशाओं में अनुवाद की भी खासा गुंजाइश और जरूरत है। अगर यह काम गंभीरता से हुआ तो कई बातें और होंगी। पहली बात यह कि– आधुनिक वैज्ञानिकों की इस धारणा के लिए यह चुनौती होगी कि हिंदी आधुनिक विज्ञान आदि की भाषा नहीं हो सकती। दूसरे– इन क्षेत्रों में अच्छे मौलिक लेखन की दिशा में आने के लिए हिंदी लेखकों को बढ़ावा भी मिलेगा। कुछ लोगों का यह मानना है कि इन विषयों को हर भाषा में नहीं पढ़ाया जा सकता लेकिन बहुत से दार्शनिकों का यह कहना है कि जो यह कहता है वास्तव में उसे इन विषयों की समझ ही नहीं है।) ऐसी धारणाओं का नतीज़ा यह हुआ कि इस तरह का कोई भी मौलिक चिंतन मूल हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं आने पा रहा है। एक तरफ यह भी सच है कि प्राचीन समय में इन विषयों के ग्रंथ मूल हिंदी में लिखे गये ग्रंथ हैं, जिसकी जानकारी भी लोगों को नहीं है। शायद इसका कारण यह भी है कि इनकी उपलब्धता संदिग्ध है। यह घोर उपेक्षा का ही परिणाम था। नतीजा आज अर्थशास्त्र, समाजिक चिंतन और ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र आम जनता की पहुँच से दूर होता चला गया है। तीसरे-हमारे बच्चों को विज्ञान, समाज विज्ञान और अर्थविज्ञान की समझ विकसित करने में मदद मिलेगी। चौथे इसलिए कि भाषा के बिना अर्थतांत्रिक संचालन भी नहीं हो सकता।

इसके लिए ज़रूरत है कि बच्चों की अपनी भाषा में इन विषयों की शिक्षा मिले। पर यह काम अध्यापकों और लेखकों की सहायता से ही बेहतर तरीके से हो सकता है। क्योंकि इन क्षेत्रों में अच्छा लेखन और पढ़ने–पढ़ाने की प्रक्रिया में बहुभाषिकता का संसाधन के रूप में इस्तेमाल अभी किया जाना है। इधर हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अच्छा लेखन हो भी रहा है। हिन्दी में गुणाकर मूले, पूरण चंद्रजोशी, अनुपम मिश्र जैसे लेखकों को इसका श्रेय जाता है। ज़ाहिर है हमें यह काम यह ध्यान रखते हुए करना होगा कि हमारे देश का चरित्र मूलत: बहुभाषी है। अगर हिंदी की बात करें तो पूरे देश में कश्मीर से कन्याकुमारी तक इसके विभिन्न रूप मिलेंगे इसीलिए हरेक बच्चे की अपनी हिन्दी भी होगी। स्कूलों में जो हिन्दी शिक्षा का माध्यम है वह बहुत कुछ बच्चों की अपनी हिन्दी से अलग है। इसीलिए बच्चों की अपनी समझ बनाने और उन्हें स्कूल में आमंत्रित करने के लिए उनकी अपनी भाषा को माध्यम बनाना होगा। स्कूल की हिंदी को भी भोजपुरी और मैथिली जैसी अनेक क्षेत्रीय भाषाओं को साथ लेकर चलना होगा। यह कक्षा में संवाद का वातावरण तैयार करने में सहायक होगा, जो समझ कर पढ़ने की पहली सीढ़ी है। देखने की बात यह भी है कि अपार लोकप्रिय और भयावह व्यावसायिक बंबइया सिनेमा, छोटे अखबारों पत्रिकाओं और रेडियो टीवी के संसार के सबसे बड़े संजाल (नेटवर्क) भी न तो अवधी के तुलसीदास को खत्म कर पायी है, न ही मैथिली के विद्यापति को मिटा पायी है। हम सब जानते है कि यह समझ की ही बात थी कि तुलसीदास को संस्कृत में लिखे 'बाल्मीकि रामायण' की रचना उस समय की जनभाषा अवधी में 'रामचरित मानस' के रुप में करनी पड़ी। भोजपुरी के भिखारी ठाकुर की लोकप्रियता इस मीडिया और बाजार की खड़ी बोली में लिखने वाले किसी भी स्वनाम धन्य आधुनिक कवि–कथाकार से आज भी ज्यादा है।

आज हिंदी या किसी अन्य भारतीय भाषा में पला–बढ़ा औसत बच्चा एक विभक्त व्यक्तित्व तथा संदिग्ध मन:स्थिति का बनता जा रहा है। वह आश्वस्त न होकर कुंठित होने के लिए अभिशप्त है। हिंदी या उनकी अपनी भाषा में शिक्षा न होने के कारण एक ओर बच्चों के भाषा प्रयोग/अभिव्यक्ति में निखार नहीं आ पाता, तो दूसरी ओर अँग्रेज़ी भाषा की चकाचौंध जरूर उनके मन पर हावी होने लगती है। उसकी अभिव्यक्ति निरंतर असहज और अस्पष्ट होती जाती है। भाषा के सक्षम प्रयोग से उभरने वाले आत्मविश्वास से भी वह वंचित होता जा रहा है। इसलिए अब हर अध्यापक और स्कूल को बच्चों की अपनी भाषाओं का प्रयोग माध्यम के रुप में करने की छूट देनी होगी। खासतौर से शूरूआती दौर में। इससे बच्चों का आत्मविश्वास बढ़ेगा और विषय की अपनी समझ विकसित होगी जिसे वे इत्मिनान से अपनी जुबान में कह सकेंगे।

हमें आज ईमानदारी के साथ बच्चों की अपनी भाषा के प्रयोग और पढ़ने–पढ़ाने के क्षेत्र में उसके महत्व को स्वीकार करना होगा। देश की प्रतिभा को देश के लिए उपयोगी बनाने के लिए हमारे पास और कोई दूसरा विकल्प नहीं है।